

कृषि आधारित कुटीर उद्योग

डॉ आशा आर्या

सहायक प्राध्यापक इतिहास

राजकीय महाविद्यालय काण्डा बागेश्वर

Abstract

उत्तराखण्ड में कृषि जीवन निर्वाह का प्रमुख स्रोत रहा और इससे सम्बन्धित हस्त शिल्प ने इस क्षेत्र के निवासियों की अर्थव्यवस्था को दृढ़ आयाम प्रदान किया है। हस्त कला इस क्षेत्र को विरासत के रूप में प्राप्त हुई है। यहां सुदूर अंचलो में भी शिल्प की परम्परा हर क्षण पल्लवित होती है। यहाँ के शिल्पी कुटीर उद्योगों के द्वारा ग्रामीण लोगो की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। यह कार्य उनकी आजीविका का साधन भी था। वर्तमान में जहां इनमें से कई उद्योग समाप्त हो गये है और कुछ समाप्त होने की कतार में खड़े है। वहीं कृषि का आधुनिक रूप भी देखने में आ रहा है। आज भी कृषि और उद्योगों का सम्बन्ध दिखायी देता है। इन दोनों की आपस में निर्भरता बढ़ती जा रही है। वर्तमान में कुटीर उद्योगों के अतिरिक्त ग्रामीण उद्योग, लघु उद्योग ये सभी उद्योग किसी न किसी तरह कृषि से सम्बन्ध रखते हैं आज भी गांवों में कृषि से सम्बन्धित कार्य करने के लिए औजार निर्माण कार्य भी ग्रामीण कारीगरों द्वारा किया जाता है और वर्तमान में भी कृषि सम्बन्धित लघु उद्योगों हथकरघा, हस्तकला आदि पर विशेष बल दिया जा रहा है। प्राचीन समय में कृषि की जो महत्ता कुटीर उद्योगों के लिए थी वो वर्तमान में भी हमें किसी न किसी कुटीर उद्योग के रूप में देखने को मिलती है इसीलिए कृषि को अर्थव्यवस्था का आधार माना जाता है।

कूट शब्द - अर्थव्यवस्था, विरासत, उद्योग, निर्माण, सम्बन्धित

जब मानव का विकास हुआ तब उसने धीरे-धीरे गांव में बसना सीखा। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वह प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं का उपयोग किया करता था। धीरे-धीरे उसने जीवन यापन के लिए कृषि तथा पशुपालन प्रारम्भ किया। खेती और पशुपालन के साथ ही साथ वह आवश्यकतानुसार लकड़ी के बर्तन, उलिया बनाना आदि बहुत कुछ सीख गया और इस प्रकार उसने अपने जीवन यापन के तरीके खोजे। यही से समाज में कुटीर उद्योगों का प्रारम्भ हो गया। कुटीर उद्योग का अभिप्राय उस उद्योग से है जो किसी भी कारीगर द्वारा अपने घर पर किया जाता है। कुटीर शब्द स्वयं में कारीगर की कुटिया अथवा घर का परिचायक है। इस तरह कुटीर पर किया जाने वाला उद्योग कुटीर उद्योग कहलाता है।¹

वेदों तथा पुराणों में भी विभिन्न कुटीर उद्योगों का उल्लेख मिलता है। इन प्रमाणों से मध्य हिमालय में कुटीर तथा घरेलू उद्योगों का वैदिक कालीन होना स्पष्ट है। यजुर्वेद में उल्लेख है कि राजा, रथकार, बढ़ई, लोहार, सूक्ष्म यंत्र निर्माण कर्ता, कुलाल आदि के विषय विशेषज्ञों का सलाहाकार के रूप में प्रतिष्ठित करते थे। इसी प्रकार चाणक्य ने गांव की स्थापना के विषय में लिखा है। नये गांव में लोहार, बढ़ई तथा चौकीदार अनिवार्य रूप से होने चाहिए।² इन उद्धरणों से पता चलता है कि कृषि के साथ-साथ गांव में कारीगरों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा है। इसी कारण आज भी प्रत्येक गांव में कृषि सम्बन्धी यंत्रों अथवा औजारों का निर्माण करने वाले कारीगर मिलते है।

उत्तराखण्ड में कृषि जीवन निर्वाह का प्रमुख स्रोत रहा और इससे सम्बन्धित हस्त शिल्प ने इस क्षेत्र के निवासियों की अर्थव्यवस्था को दृढ़ आयाम प्रदान किया है। यहां सुदूर अंचलो में भी शिल्प की परम्परा हर

क्षण पल्लवित होती है। प्रारम्भ से ही शिल्पकार ग्रामीण उत्पादन का मुख्य आधार रहा है। पाणिनी की टीका से पता चलता है कि गांव से कुछ शिल्पकार यथा बढई, राज मिस्त्री, नाई, चमार, धोबी आदि होते थे और उन्हें वर्ष में अनाज का कुछ अंश मिलता था।³ यहाँ पर वनों की अधिकता के कारण प्रमुखतः कृषि तथा पशुचारण व्यवसाय किया जाता है। इसलिए यहां पर वन सम्पदा को खनिज सम्पदा से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है।

हस्त शिल्प का कार्य यहां पर शिल्पकार वर्ग द्वारा किया जाता था। इस वर्ग ने अपने शिल्प से शिल्पकला का विकास किया इनके छोटे-छोटे गांव होते थे। ये अपने कार्य को अपने गांव में स्थापित करते थे और अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं के वितरण के लिए दूसरे गांवों में भी जाते थे। धीरे-धीरे गांव में बसने के साथ-साथ यहां पर पशुचारण, ऊन वस्त्र उत्पादन, लोहारगिरी, बढईगिरी, रुड़ियागिरी, औजीगिरी, कुम्हारी, टम्टागिरी आदि घरेलू उद्योग प्रत्येक गांव में स्थापित होते गये। इस क्षेत्र के ग्राम समूहों में लकड़ी के कारीगर बढई, लोहे के काम करने वाले लोहार, रिगाल के बर्तन बनाने वाले रुड़िया, पानी के खैरात पर लकड़ी के बर्तन बनाने वाला चुनेर, कच्चे चमड़े का जूता बनाने वाला चमार, तेल निकालने वाला तेली, मिट्टी के बर्तन बनाने वाला कुम्हार, कपड़ों की सिलाई करने वाला औजी (दर्जी) आदि कहा जाता था।⁴ इसके अतिरिक्त वनों में विभिन्न प्रकार के उपयोगी रेशे भी प्राप्त होते थे। जिनसे की ये लोग घरों पर ही झाड़ू, रस्सी आदि बना लेते थे। इस तरह यहां पर अधिकांश कुटीर उद्योग कृषि एवं वनों पर ही आधारित है। कृषि एवं वनों पर आधारित प्रमुख कुटीर उद्योग इस प्रकार है –

घराट और चक्की— घराट कृषि आधारित एक उद्योग है जो अनादिकाल से ही चलता आ रहा है। स्थानीय भाषा में घराट को 'घट' कहा जाता है यह पानी से चलाया जाता है घराट को कृषि आधारित उद्योग इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें गेहूं, मडुवा, चुवा, दाले आदि कृषि उपजों की पिसाई की जाती है। इनकी स्थापना नदी के किनारे पर की जाती है। इनका निर्माण मुख्यतः जिला पिथौरागढ़ के राम मंदिर (गंगोलीहाट) के पास 'बौराण' नामक गांव में किया जाता है। यहां से ही सम्पूर्ण कुमाऊँ को घट चाक/जतार, दलनी (दाल दलने हेतु) आदि का व्यापार किया जाता है।⁵

घराट को हम किसी भी स्थान पर छोटी बड़ी नदी के किनारे देख सकते हैं। घराट में आटा पिसने हेतु छोटी बड़ी नदियों के पानी को छोटी सी नहर के द्वारा ऊचाई से लकड़ी लट्टे पर खुदे संकरे मार्ग से घट के नीचे बने फिरकी पर तीव्रता से गिराया जाता है। पानी की शक्ति से फिरकी घूमने लगती है। फिरकी के घूमने से ऊपर लगे पत्थर के स्थायी चक्के के ऊपर रखा अन्य चक्का घूमने लगता है जिसके घूमने से चक्के को छूती हुई लकड़ी के छोटे-छोटे चिड़िया की आकृति के टुकड़े जिन्हे स्थानीय भाषा में 'चड़ी' कहा जाता है⁶ हिलने लगता है जिससे अनाज ऊपरी चक्के पर बने छिद्र से गिरता जाता है। इस प्रकार अनाज दोनो चक्को के मध्य पिस कर आटे के रूप में बाहर निकलता रहता है। इसका उपयोग सभी लोगो द्वारा किया जाता है।

कुमाऊँ में घराट चाक का कार्य अनादिकाल से ही चलता आ रहा है परन्तु वर्तमान में डीजल इंजन तथा विद्युत से चलने वाले चक्कियों की स्थापना हो गयी है। जिससे की इसका उपयोग कुछ कम हो गया है, क्योंकि इन घराटों में आटा पीसवाने में समय अधिक लगता है परन्तु डीजल से चलने वाले चक्कियों में समय कम लगता है और कार्य जल्दी हो जाता है। परन्तु फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में अभी चाक आदि का ही उपयोग किया जाता है।

कोल्हू :- आज से लगभग कुछ समय पूर्व तक उत्तराखण्ड में तिल, सरसो, राई आदि से तेल निकालने के लिये कोल्हू नामक यंत्र का उपयोग किया जाता था, कोल्हू चलाने वाले वर्ग को भूल कहा जाता था। गांव के एक कोने में तेल को पिरोने के लिये कोल्हू की स्थापना की जाती थी जिसे कोल्हू बाड़ा या कोली बाड़ा के नाम से जाना जाता था।⁷

कोल्हू की स्थापना अधिकांशतः गर्म क्षेत्रों और घाटी वाले क्षेत्रों में ही की जाती है क्योंकि सरसों का उत्पादन अधिकतर इन्ही क्षेत्रों में होता है। इसकी स्थापना एक गांव में किसी एक व्यक्ति द्वारा की जाती है और सरसों की पिराई के लिए लोग यहां पर दूर-दूर से भी आते थे ओर कोल्हू के मालिक को पिराई के फलस्वरूप रुपया, अनाज देते थे,

पिराई का कार्य अधिकतर हाथों से किया जाता है पर यदि सरसों की मात्रा अधिक हो तो पिराई के लिये बैलो का प्रयोग किया जाता है, बैलो द्वारा पिराई कराने के लिये जु (लकड़ी से निर्मित कृषि उपकरण) को बैलों की गर्दन में रखा जाता था, कोल्हू के डंडे को जु के दूसरे सिरे पर बांधा जाता था। जब बैल गीन के चारों ओर घूमता है तो कोल्हू का डंडा भी उसके साथ घूमता है इस प्रकार पिराई की जाती है । कोल्हू में प्रयुक्त ओखली और मुसल बड़े आकार के होते थे, प्रत्येक गांव के अपने कोली होते थे, जिनके यन्त्र-अवशेष आज भी पाये जाते हैं लेकिन यान्त्रिक युग में आज इसका प्रचलन कम हो गया है।⁸

पर्वतीय क्षेत्रों में प्रत्येक घर में ओखली, मुसल और तेल निकालने की पई का पाया जाना और यहाँ अनेक स्थानों पर निवास करने वाली कोल उपजाति का पाया जाना इस बात को प्रमाणित करता है कि तेल का उत्पादन यहाँ व्यापक स्तर पर होता होगा

आज पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि उपजो यथा तिल,सरसों, भगंजीरा आदि तिलहन की पैदावार बहुत सीमित मात्रा में हो रही है जिसके फलस्वरूप कोल्हू का प्रचलन धीरे-धीरे लुप्त हो गया साथ ही साथ यहाँ पर स्थान-स्थान पर सरसों पिराई की मशीने आ गई है इनमें समय कम लगता है तथा तेल भी अपेक्षाकृत अधिक निकलता है इन कारणों से 'कोल्हू' का प्रचलन समाप्त हो गया है ।

कपड़ा बुनना-कुमाऊँ में प्राचीन समय से ही वस्त्र बुनने का कार्य किया जाता था। कपड़ा बुनने का कार्य कोली जाति द्वारा किया जाता था इनके बनाये कपड़े को 'घरबुन' कहा जाता है⁹क्योंकि ये लोग अपने घर में चरखे पर वस्त्र बनाते थे। इनके द्वारा विभिन्न वस्त्रों को निर्मित किया जाता था। यथा- ऊनी चादर, थुलमा, ओढ़ने बिछाने के वस्त्र आदि । इस क्षेत्र में उत्तम कोटी की कपास होती थी जिससे विभिन्न वस्त्रों का निर्माण किया जाता था।

यहाँ के शिल्पीयों द्वारा आज से 4-5 पीढ़ी पूर्व कपास की रूई से कपड़ा बनाने का कार्य परम्परागत रूप से किया जाता था। इसके लिए यहां पर पर्याप्त मात्रा में कपास उगाया जाता था। जिससे की अपनी आवश्यकतानुसार कपड़ा तैयार किया जाता था।¹⁰

वस्त्र निर्माण के संबंध में उल्लेखनीय है कि यहां पर अन्न के साथ भांग का उत्पादन भी किया जाता था। इसके रेशे से बने वस्त्रों को भंगेला कहा जाता था तथा भंगेला वस्त्र यहां से बाहर भेजा जाता था।¹¹भंगली वस्त्र का निर्माण कोली शिल्पकारों के द्वारा किया जाता था। यह वस्त्र अन्य वस्त्रों की अपेक्षा सस्ता होता था। भांग के कोथले (आधुनिक बोरा) बनाने वाले बोरा जाति के लोग कुथलिया बौर कहलाये जाने लगे। ये लोग भांग की बोरियां, कुथले तथा कपड़ा बनाते थे। भांग के रेशे से निर्मित सामग्री की मांग रामनगर के बाजार तथा स्थानीय मेलों (बागेश्वर व जौलजीवी) में अधिक थी।¹²ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व इसका उत्पादन नशीलें पदार्थों के प्रयोग में न होकर घरेंलू उपयोग के लिए ही अधिक होता था लेकिन इस समय

भाग से भंगेले के वस्त्र, थैले तथा दैनिक उपयोग की वस्तुओं का निर्माण कम होने लगा तथा इसका उत्पादन नशे के लिये अधिक होने लगा था जिस कारण ये घरेलू उद्योग सीमित मात्रा में स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति तक सिमट गया। ब्रिटिश सरकार के द्वारा इस कुटीर उद्योग को बचाने का प्रयास नहीं किया गया। जिसके फलस्वरूप आयातित वस्तुओं के कारण अत्यधिक हानि पहुंचनी थी लेकिन पेशावर कांड के सेनानी स्वर्गीय चन्द्रसिंह गढ़वाली ने अपनी जन्मभूमि थलीसैण विकास में भाग उद्योग की एक समिति का गठन करके इस उद्योग को विकसित करने का प्रयास किया था परन्तु उनके देहावसान के पश्चात यह भाग वस्त्र उत्पादन केन्द्र बन्द हो गया।¹³

भाग के उत्पादन का क्षेत्र कम हो जाने के कारण वर्तमान में पुश्तेनी दस्तकार तेजी से इस शिल्प को छोड़ रहे हैं मंहगी भंगेली वस्तुओं की जगह अब कारखानों में बनी वस्तुओं ने ले ली है जो सुन्दर व सस्ती तो होती ही है और सरलता से उपलब्ध हो जाती है इसके साथ ही वर्तमान में नई पीढ़ी इस कार्य में कोई रुचि नहीं ले रहीं हैं अतः उद्योग अब मृत प्रायः स्थिति में हैं ।

पत्तों का कार्य:— पत्तियों का कार्य करने वाले शिल्पीयों को पारकी नाम से जाना जाता था। इनका गांव पतार बाड़ा कहलाता था गंगोलीहाट में आज भी पतरबाड़ा नामक गांव है। इन शिल्पीयों द्वारा कुछ समय पूर्व तक पत्तियों से विभिन्न प्रकार की सामग्री को तैयार किया जाता था। इस समय आवागमन के साधनों के अभाव में बहुत सी सामग्री लोगों को उपलब्ध नहीं हो पाती थी इस उपलब्धता के अभाव में ये लोग कुछ वस्तुओं का निर्माण पत्तियों से भी किया करते थे। ये लोग विभिन्न सामग्री का निर्माण भोजपुला मालू, देवनिगांल की पत्तियों द्वारा करते थे। अभिलेखीय साक्ष्यों में पारकी का उल्लेख मिलता है कि पारकी को कर के रूप में मालू के पत्तो का बना छाता देना पड़ता था। पारकी जाति के लोगों द्वारा मालू के पत्तो की छाता बनाकर दस्तूर में विभिन्न प्रशासनिक अधिकारियों को दी जाती थी।¹⁴

पत्तो से निर्मित विभिन्न सामग्री का उपयोग आज भी कोटाबाग (नैनीताल), सल्ट (अल्मोड़ा) तथा कनालीछीना (पिथौरागढ़) आदि क्षेत्रों में किया जाता है। इन पत्तों में सबसे प्रमुख पत्तल है। जिसका उपयोग अधिक किया जाता है। विभिन्न अवसरों पर इसका उपयोग खाने के लिए किया जाता है आज भी कहीं कहीं ग्रामीण क्षेत्रों में शादी-विवाह में भोजन करने के लिए पत्तल का उपयोग किया जाता है ये लोग ग्रामीण क्षेत्रों में गांव के लोगों द्वारा ही पत्तल का निर्माण किया जाता है। स्थानीय भाषा में इन्हे पताव कहा जाता है।

आज भी पत्तल का निर्माण कुटीर उद्योग के रूप में किया जाता है। पत्तल से थाली, प्लेट और कटोरे के समान पात्र आदि बनाये जाने का कार्य किया जाता है। इनके अतिरिक्त यहां नामकरण, यज्ञोपवीत, शादी विवाह, श्राद्ध आदि धार्मिक संस्कारों में निर्विवाद रूप से पत्तियों के पूड़े (कटोरे सदृश आकृति) बनाये जाते हैं। जिनमें पिठाऊं (तिलक) आदि घोला जाता है तथा श्राद्ध के अवसर पर मृतात्मा को भोजन, पानी आदि भी इन्हीं पूड़ों में ही आपूर्ति किये जाते हैं। पूड़े बनाने हेतु एक या दो बड़े पत्तियों को कटोरे की आकृति में मोड़ा जाता है तथा मुड़े हुए स्थान 'सिड़क' से जोड़ दिया जाता था।

जड़ी-बूटी पर आधारित उद्योग:—प्राचीन काल से ही कुमाऊँ में ऋषि मुनियों व वैद्यों में यहां की औषधीय प्रजातियों की पहचान और उनके द्वारा रोगों के उपचार करने की विधि का पूर्ण ज्ञान रहा है यह ज्ञान उनके द्वारा उनके वंशजों को मिलता रहा है। कुमाऊँ की अर्थव्यवस्था में वनों से प्राप्त जड़ी बूटी का भी अत्यन्त महत्व है यह केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं वरन् मानवीय दृष्टिकोण से भी आवश्यक है।

जड़ी बूटि को यदि परिभाषित किया जाये तो यह दो शब्दों जड़ी एवं बूटी से मिलकर बनता है जड़ी का अर्थ होता है- जड़ या भूमि के अन्दर का भाग तथा बूटी का अर्थ है भूमि के ऊपर का भाग।¹⁵

प्राचीन समय से ही इन जड़ी बूटियों से बनी औषधि पर लोगों का पूर्ण विश्वास था जो आज भी नजर आता है। इसी कारण वर्तमान समय में जड़ी बूटी उत्पादन के विभिन्न प्रयास किये जा रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले कुछ लोगों को इन जड़ी बूटियों का ज्ञान होता है और अन्य ग्रामीण भी उनसे इलाज करवाते हैं। वेदों द्वारा घरेलू इलाज के लिए कूथ की जड़, भिस्ती, तीता, पश्वन भेद, अतीस की जड़ विभिन्न वनस्पतियों की जड़, धतूरा (बीज) पत्ती और जड़ भी औषधि बनाने के लिए उपयोग में लाई जाती है। इसके अतिरिक्त गुलबनप्सा, दालचीनी, हल्दी, कुटगी, चिरायत, हिंगोली आदि का उपयोग भी किया जाता है।

प्राकृतिक सम्पदा से प्राप्त जड़ी-बूटिया आज समृद्धि का आधारभूत स्तम्भ बन चुकी है। वर्तमान में जड़ी बूटियों की बढ़ती निर्विवाद उपयोगिता के कारण इनकी कीमते राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में काफी ऊंची है। इसका मुख्य कारण आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा रोग के समूल नष्ट हो जाने तथा शरीर में किसी प्रकार का कोई दुष्प्रभाव भी नहीं होने के कारण जड़ी बूटियों का उपयोग बढ़ा है। इस समय सम्पूर्ण विश्व भारत की आयुर्वेद विज्ञान की जड़ी बूटियों के उपयोग पर आशान्वित है।

जड़ी बूटियों का उपयोग घरेलू कुटीर उद्योग के रूप में प्राचीन समय से ही होता आ रहा है और आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में ये कुटीर उद्योग के रूप में विद्यमान है वर्तमान समय में दिन प्रतिदिन इन जड़ी बूटियों का महत्व बढ़ता जा रहा है। इन जड़ी बूटियों का उपयोग कर आज भी कई ग्रामीण क्षेत्रों में वेदों द्वारा लोगों का इलाज किया जाता है। यद्यपि ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति के प्रारम्भ तथा प्रचार प्रसार अधिक होने से तथा ग्रामीण वैद्यो को राजकीय मान्यता न मिलने के कारण आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति पर आधारित ग्रामीण वैद्यो का हास होना प्रारम्भ हो गया साथ ही ऐलोपैथिक दवाईयों का अधिक प्रचार प्रसार होने के कारण लोगों द्वारा इनका अधिक उपयोग होने लगा है परन्तु फिर भी जड़ी-बूटियों से बनी औषधियों का अपना ही महत्व है क्योंकि इन औषधियों से मनुष्य के स्वास्थ्य पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। लोगों का आज भी इन औषधियों पर विश्वास बना हुआ है इसीलिए प्राचीन समय से आज तक इनकी निरन्तरता बनी हुई है।

रिंगाल उद्योग :- रिंगाल उद्योग बहुत प्राचीन और परम्परागत उद्योग है क्योंकि परम्परागत ग्रामीण जरूरतो की वस्तुएं रिंगाल एवं बांस से बनती रही हैं। इनसे चटाईयां, टोकरियां, सूपे, डाले आदि का निर्माण किया जाता है। बांस का प्रमुख कार्य मुख्य रूप से भूमिहीन हरिजनों द्वारा ही किया जाता है जिन्हें रूडिया कहा जाता था वह साथ ही स्थानीय भाषा में इस उद्योग को रूडियागिरी कहा जाता था। उत्तराखण्ड में रिंगाल (निगांल) एवं बांस की उपज जंगलो में होती है। उच्च किस्म का रिंगाल (थाम व घो रिंगाल) ऊंचाई वाले जंगलो में पाया जाता है। कुमाऊँ का दानपुर इस किस्म के रिंगाल की उपज के लिए प्रसिद्ध था। दानपुर के ऊपरी गांवों में रिंगाल की चटाईयां बनायी जाती थी। यहां रिंगाल दानपुर की ऊपरी तथा मध्य जंगलो में प्रचुरता में उपलब्ध होता था।¹⁶

आज से कुछ वर्षों पूर्व तक यह कार्य 'बाड़ी' नामक शिल्पी लोगों द्वारा किया जाता था। परन्तु वर्तमान में अन्य जाति के लोगो द्वारा भी यह कार्य किया जाता है। रूडिया लोग इस कार्य को कुटीर उद्योग की भांति लेते हैं। क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों में इसकी मांग अधिक है और रूडिया लोग उसके इसी मांग की पूर्ति करने के लिए रिंगाल से विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी मांग इसलिये अधिक है क्योंकि यहां पर खेती का कार्य होता है। जिसके लिये मोव (खाद) आदि समान रखने के लिये डलिया आदि

की आवश्यकता होती है। ग्रामीण क्षेत्रों में रोटी रखने के लिये छापरी का उपयोग किया जाता है। रिंगाल से निर्मित ये वस्तुएँ हमें वर्तमान में भी देखने को मिलती हैं।

अभिलेखीय साक्ष्यों से विदित होता है कि मनुस्यारी क्षेत्रों से कर के रूप में मोस्टे भी लिये जाते थे। यहां के लोग आज भी मोस्टा का निर्माण करते हैं। मोस्टे का प्रयोग अन्न सुखाने के लिये बिछाने के लिए तथा छप्पर निर्माण में भी किया जाता है।¹⁷

वर्तमान समय में बांस व रिंगाल का उपयोग कई वस्तुओं के निर्माण कार्य में किया जाने लगा है। इससे विभिन्न प्रकार की सजावट की सामग्री टेबल, कुर्सी, सोफा, श्रृंगार दान, छोटी बड़ी टोकरिया आदि विभिन्न सामग्री बनाई जाती है और ये सभी सामग्री बाजारों में विक्रय हेतु उपलब्ध होती है। और लोगों, द्वारा खरीदी जाती है। आज भी रिंगाल से बनी वस्तुओं का प्रचलन समाज में दिखाई देते हैं। रामबांस से बनी वस्तुओं की मांग भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी होने लगी है।

रेशा उद्योग:—उत्तराखंड में उन क्षेत्रों में रेशा उद्योग का कार्य होता है जहां पर भीमल (भिमू), मालू, जंगलकंडाली, बावड़ (बाबर) एक प्रकार का मोटा घास आदि के वृक्ष पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। पेड़ से रेशे निकालने के लिए पेड़ की टहनियों को पानी में डुबाकर रखा जाता है। पानी में रहने के कारण रेशा स्वतः ही लकड़ी को छोड़ देता है। इस प्रकार रेशा प्राप्त किया जाता है। इन रेशों के द्वारा चटाई, मछली पकड़ने का जाल, बाधने की रस्सी आदि तैयार की जाती है।

भीमल भांग, रामबांस के रेशों से रस्सियां बनाई जाती है। जो गांय, भैंस, बैल आदि को बाधने के काम आते हैं। गेहूँ के घास, धान का पराल तथा मोटे घास की चटाईयां बनाई जाती है। इन चटाईयों को बनाने के लिए रेशों की बारीक रस्सियां बनाई जाती है और इसके बाद इनसे चटाईयां तैयार की जाती है। भांग एवं सैलू के रेशे से डोरियां बनाई जाती है जिनसे बैलो के गले में घंटियां बाधी जाती है। रेशे से बनी रस्सियों का उपयोग जंगल से घास व लकड़ी लाने के लिए किया जाता है। चारपाई बान आदि भी इसी से बनती है। उत्तराखण्ड से भांग से तथा अन्य रेशे की रस्सियां बाहरी बाजारों में बिकती है।¹⁸

इन उद्योगों में मुख्यतः स्थानीय ग्रामीणों को ही रोजगार मिलता है। रामबांस के पत्ते से रेशा निकालकर सुखाया जाता है। विभिन्न रंगों में रंग कर कलात्मक वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। इसके रेशों से चटाईयां, पर्स, बाल हैगिंग, बैग्स, फाइल कवर आदि अनेक वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। इन कलात्मक वस्तुओं का विपणन स्थानीय बाजार, शहरी क्षेत्रों व प्रसिद्ध मेलों में किया जाता है। इसकी उपयोगिता के कारण इसका प्रचलन आज भी दिखायी देता है।

हस्त निर्मित कागज उद्योग:—गढ़वाल तथा कुमाऊँ में हाथ से कागज उत्पादन कार्य कुटीर स्तर पर किया जाने का बहुत पुराना इतिहास है। वाल्टन गजेटियर में उल्लेख किया है कि इस पर्वतीय क्षेत्र में हस्त निर्मित कागज का उपयोग स्थानीय निवासियों द्वारा किया जाता है वाल्टन के अनुसार 'पर्वतीय कागज उत्पादन दशजूली पट्टी के दो गांव, दरपती एवं संलौग में अभी भी किया जाता है। यह तीन आना प्रति दर्जन की दर से बेचा जाता है।¹⁹ कागज सतपूड़ा की छाल से बनाया जाता है। सतपूड़ा की छाल से कागज बनाने के लिए सर्वप्रथम छाल को पहले उबाला जाता है और फिर कूट कर लुगदी बनाई जाती है। इसके पश्चात इसे कपड़े के सांचों में दबाया जाता है और सुखाया जाता है। कागज को चमकदार बनाने के लिए कागज के ऊपर चावल की मांड का पतला लेप किया जाता है। इस कागज का उपयोग विशेष रूप से जन्म कुण्डली, धार्मिक ग्रन्थ,

राजस्व लेखे, जन्म-मृत्यु का लेखा आदि रखने के काम में लाया जाता था। गढ़वाल में इस घास को 'सतपूड़' या 'सतबडुआ' व कुमाऊँ में 'बडुआ' कहा जाता है।²⁰

यह कागज मशीन के कागज से कुछ मोटा अवश्य होता था परन्तु मजबूत एवं टिकाऊ होता था। अल्मोड़ा में कुमाऊँ के विभिन्न अंचलो के साथ-साथ गढ़वाल से भी यह हस्त निर्मित पहाड़ी कागज बिकने के लिए आता था। स्थानीय आपूर्ति के पश्चात इस कागज का तिब्बत और मैदानों को निर्यात भी किया जाता था।²¹

काष्ठ कला उद्योग:—कुमाऊँ क्षेत्र में वनों की अधिकता एवं इमारती लकड़ी उपलब्धता से घरेलू लकड़ी कारीगरों को रोजगार का साधन प्राप्त होता रहा। यद्यपि यह पूर्णकालिक रोजगार का साधन नहीं था किन्तु कृषि कार्य समाप्त होने पर माह नवम्बर से अप्रैल तक ग्रामीणों को मकान गोशालाओं के निर्माण के लिए लकड़ी के स्लीपर, बल्लियां, गोल बांसे, तख्ते आदि तैयार करने के लिए वृक्षों की कटाई, चिराई दरवाजे, खिड़कियां आदि का काम होता रहता था। मकानों पर खोलियों की लकड़ी पर गणेश, घोड़े, हाथियों की मूर्तियां बनाने, स्वस्तिक चिन्ह तथा डिजायन बनाने का कार्य कारीगरों द्वारा लगभग समस्त गांवों में किया जाता था। इन कारीगरों को बढई कहा जाता था।²²

विभिन्न प्रकार के काष्ठों से मकानों के मुख्य प्रवेश द्वार छोटी-बड़ी खिड़किया, छज्जा की लकड़ियां स्तम्भ, सीढ़ीदार जंगले, आल्मारियां, लकड़ी के छोटे सन्दूक, अनाज रखने के भकार, कोठार, फर्नीचर, अनाज मापक बर्तन (पाथा), कृषि यन्त्र व उपकरण कलाकृतियां, मूर्तियां घराट के उपकरण तथा घरेलू उपयोग के अन्य वस्तुओं का निर्माण बढई द्वारा सम्पन्न किया जाता रहा है। परम्परागत औजारों से ही ये समस्त कार्य किये जाते थे।

कृषि उपकरणों में हल, जुवा, जोल (पाटा) लाठ, मय्या तथा कताई-बुनाई के रांच, तकली, चर्खा आदि वस्तुएं विभिन्न प्रकार के काष्ठों से बनाते थे। लकड़ी के उपयोगी बर्तन भी बनाये जाते थे। जिन्हें ग्रामीण क्षेत्र में ही बेचा जाता था। ग्रामीण अंचलों के छोटे मेंलों में भी इन वस्तुओं की बिक्री की जाती थी।

काष्ठ उद्योग के अर्न्तगत ही लकड़ी के पात्र बनाने का लघु कुटीर उद्योग काफी उन्नत था। काष्ठ पात्रों का निर्माण, पानी द्वारा लेथ चलाकर लकड़ी के मोटे-मोटे गिल्टो से किया जाता था। इस कार्य को करने के लिए काफी शारीरिक श्रम एवं शक्ति की आवश्यकता होती है जिन स्थानों पर लकड़ी एवं पानी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है वहां पर यह उद्योग स्थापित किया जाता था इसका उल्लेखनीय उदाहरण गोरीछारी (अस्कोट) है। जहां के बर्तनों की मांग विशेषकर दुग्ध व्यवसाय में रत लोगो में इस पूरे क्षेत्र में दूर-दूर तक थी। अस्कोट में रांजी (वनरावत) आज भी लकड़ी के बर्तन बनाने का कार्य करते हैं। लेथ के अतिरिक्त खोपकर भी काष्ठ पात्र बनाये जाते थे। लकड़ी के पात्रों में जैसे नलियां, ठेकी, डोका, हडपिया, नाली, बैकर, माना, हुडका, आदि विभिन्न प्रकार के बर्तन बनाये जाते थे। उदेपुर मंदिर बगवाली पोखर (रानीखेत) में हरकैड़ा की काष्ठ मूर्ति से प्रमाणित होता है कि यहां काष्ठ मूर्तियों का भी निर्माण किया जाता था।²³

उपरोक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि उत्तराखण्ड में प्राचीन समय से ही ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि से सम्बन्धित कुटीर उद्योगों का प्रचलन चलता आ रहा है। यहाँ के शिल्पी कुटीर उद्योगों के द्वारा ग्रामीण लोगो की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। यह कार्य उनकी आजीविका का साधन भी था। वर्तमान में जहां इनमें से कई उद्योग समाप्त हो गये हैं और कुछ समाप्त होने की कतार में खड़े हैं। वहीं कृषि का आधुनिक रूप भी देखने में आ रहा है। आज भी कृषि और उद्योगों का सम्बन्ध दिखायी देता है। इन दोनों की आपस में निर्भरता बढ़ती जा रही है।

वर्तमान में कुटीर उद्योगों के अतिरिक्त ग्रामीण उद्योग, लघु उद्योग ये सभी उद्योग किसी न किसी तरह कृषि से सम्बन्ध रखते हैं आज भी गांवों में कृषि से सम्बन्धित कार्य करने के लिए औजार निर्माण कार्य भी ग्रामीण कारीगरों द्वारा किया जाता है और वर्तमान में भी कृषि सम्बन्धित लघु उद्योगों हथकरघा, हस्तकला आदि पर विशेष बल दिया जा रहा है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि प्राचीन समय में कृषि की जो महत्ता कुटीर उद्योगों के लिए थी वो वर्तमान में भी हमें किसी न किसी कुटीर उद्योग के रूप में देखने को मिलती है इसीलिए कृषि को अर्थव्यवस्था का आधार माना जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. बिष्ट नारायण सिंह 2001 उत्तरांचल हिमालयी राज्य में औद्योगिकरण रोहिणीप्रिंटरर्स एण्ड पब्लिशर्स देहरादून पृ.सं. 67
2. पूर्वोक्त पृ.सं. 65
3. काणे वी.पी. 1973 धर्मशास्त्र का इतिहास अनुवाद हिन्दी समिति लखनऊ पृ.सं. 40
4. बिष्ट नारायण सिंह 2001 पूर्वोक्त पृ.सं. 55
5. टम्टा सुरेशचन्द्र 2007 वर्तमान अतीत मध्य हिमालय का शिल्प, शिल्पकार एवं नृ पुरातत्व अल्मोड़ा पृ. सं. 142
6. जोशी घनश्याम 2005 उत्तरांचल का इतिहास, नैनीताल पृ.सं.63
7. टम्टा सुरेशचन्द्र 2007 पूर्वोक्त पृ.सं.118...120
8. पूर्वोक्त
9. पाण्डे बी.डी. 1937 कुमाँऊँ का इतिहास अल्मोड़ा बुक डिपो पृ.सं. 227
10. टम्टा सुरेशचन्द्र 2007 वर्तमान अतीत मध्य हिमालय का शिल्प, शिल्पकार एवं नृ पुरातत्व अल्मोड़ा पृ.सं. 121 .. 22
11. ट्रेल जी.डब्लू स्टैटिस्टिक स्केच ऑफ कुमाँऊँ,ऐशियायिक रिसर्चर पृ.सं. 226
12. पन्त एस.डी. 1935 द सोशल इकनोमिक ऑफ द हिमालया पृ.सं.67
13. बिष्ट नारायण सिंह 2001 पूर्वोक्त पृ.सं. 57
14. नीरप्रभा नेगी वी.डी.एस. कुमाँऊँ (मध्य हिमालय) समाज एवं संस्कृति, मल्लिका बुक्स पृ.सं.101
15. बरफाल बी.एस. 2004 उत्तरांचल में उपलब्ध प्रमुख जड़ी बूटियों के कृषिकरण की विधि अनुसंधान वृत्त वन विभाग उत्तरांचल हल्द्वानी पृ.सं.1
16. बिष्ट नारायण सिंह 2001 पूर्वोक्त पृ.सं. 37
17. नीरप्रभा नेगी वी.डी.एस. 2008 पूर्वोक्त पृ.सं. 98
18. बिष्ट नारायण सिंह 2001 पूर्वोक्त पृ.सं. 61
19. बिष्ट नारायण सिंह 2001 पूर्वोक्त पृ.सं. 60
20. बिष्ट नारायण सिंह 2001 पूर्वोक्त पृ.सं. 62
21. डबराल शिवप्रसाद 1977 पूर्वोक्त पृ.सं. 214
22. बिष्ट नारायण सिंह 2001 पूर्वोक्त पृ.सं. 6
23. नेगी विद्याधर सिंह 2011 कुमाँऊँ का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास मल्लिका बुक्स पृ.सं. 204